Vol.11 October'17 No.3
Annual Subscription : Rs 100
Rs. 10/- per copy

ब्रह्मार्पण

BRAHMARPAN

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्

A Monthly publication of Brahmasha India Vedic Research Foundation

Brahmasha India Vedic Research Foundation
ब्रह्माशा इंडिया वैदिक रिसर्च फाउन्डेशन

हिन्दी राष्ट्र का गौरव

-अंकुर अरोड़ा

हिन्दी राष्ट्र का गौरव है,
आर्यों की भाषा है हिन्दी।
हिंदी स्वाभिमान हमारा,
देश की आशा है हिन्दी।।
व्यापक प्रचार का माध्यम है,
वैज्ञानिक भाषा है हिन्दी।
सरल सुबोध सुरंग सुलक्षिणी,
सुमति प्रदाता है हिन्दी।।
हिन्दी में निजता की सुवास,
हिन्दी में दर्शन गरिमा का।
हिन्दी अतीत का दर्पण है,
है गान ये भारत गरिमा का।।
हिन्दी संस्कार की उद्‌गम है,
ये सृजन नवीन विचारों का।
राष्ट्रीय एकता का सबल,
ये दुर्ग है दृढ़ आधारों का।।
हिन्दी गाँधी का सपना थी,
ये बोस को बहुत प्यारी थी।
देव दयानन्द ने हिन्दी में,
स्वराज्य की छवि निहारी थी।।
हिन्दी संस्कृत की भगिनी है,
सम्बन्ध है इसका वेदों से।
ये राजमार्ग है उन्नति का,
ये मुक्त करेगी क्लेशों से।।
हिन्दी बलिदानों की साक्षी है,
संघर्ष का शाश्वत लेख है ये।
हिन्दी स्वदेश की आत्मा है,
हिन्दी से भारत एक है ये।।

ऊधमपुर, जम्मू-कश्मीर

विवेक वैराग्य

1. वैराग्य यदि नहीं है तो वृत्ति निरोध भी नहीं हो सकता।
2. प्रतिकूलता में रुष्ट तथा खिन्न हो जाना विवेक-वैराग्य की प्राप्ति में बाधक है।
3. व्यंङ्ग्यात्मक या हंसी आने वाली भाषा बोलना विवेक-वैराग्य के लिए हानिकार है।
4. साधक गंभीर चिंतन के समय विवेक वैराग्य की ओर बढ़ता है। हँसते समय गंभीर चिंतन समाप्त हो जाता है, फलतः विवेक वैराग्य की स्थिति कम अथवा समाप्त हो जाती है।

-स्वा. सत्यपित जी परिव्राजक

Brahmarpan October'17 Vol. 11 No.3
आश्विन-कार्तिक 2074 वि.संवत्

ब्रह्मार्पण
BRAHMARPAN

A bilingual Publication of Brahmasha India Vedic Research Foundation

BRAHMASHA INDIA VEDIC RESEARCH FOUNDATION

C2A/58, Janakpuri,
New Delhi-110058
Tel :- 25525128, 9313749812
*email:*deeukhal@yahoo.co.uk
brahmasha@gmail.com
Website : www.thearyasamaj.org
of Delhi Arya Pratinidhi Sabha
Sh. B.D. Ukhul
Secretary
Dr. B.B. Vidyalankar 0124-4948597
President
Col.(Dr.) Dalmir Singh (Retd.)
V.President
Dr. Mahendra Gupta *V.President*
Ms. Deepti Malhotra
Treasurer

Editorial Board
Dr. Bharat Bhushan Vidyalankar, Editor
Dr. Harish Chandra
Dr. Mahendra Gupta
Acharya Gyaneshwararya

लेख में प्रकट किए विचारों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं है। किसी भी विवाद की परिस्थिति में न्याय क्षेत्र दिल्ली ही होगा।

Printed & Published by
B.D. Ukhul for Brahmasha India Vedic Research Foundation
Under D.C.P.
License No. F2 (B-39) Press/ 2007
R.N.I. Reg. No. DELBIL/ 2007/22062
Price : Rs. 10.00 per copy
Annual Subscription : Rs. 100.00

CONTENTS

1. हिन्दी राष्ट्र का गौरव 2
-अंकुर अरोड़ा
2. संपादकीय 4
3. सांख्य दर्शन 7
-डॉ. भारत भूषण
4. भारतीय गणराज्य की राजभाषा हिन्दी व स्वामी दयानन्द 8
-स्व. पं. प्रकाशवीर शास्त्री
5. देव दयानन्द के पथ-प्रदर्शक विरजानन्द सरस्वती 12
-लाला लाजपतराय
6. हम कब तक विदेशी भाषा के गुलाम रहेंगे? 19
-शिवकुमार गोयल
7. बर्बर (असभ्य) लोगों की अपनी भाषा नहीं होती 21
8. शिक्षा का माध्यम-मातृभाषा 23
-आनन्दस्वरूप गर्ग
9. "अंतिम संस्कार और पर्यावरण ऐसी भी हैं वैदिक सिद्धान्तसिक्त सन्तानें 26
-प्रियवीर हेमाइना
10. राजभाषा के रूप में हिन्दी 28
-प्रो. सुन्दर रेड्डी
11. Nehru and Patel : Rivals Or Comrades? 34
-Ramachandra Guha

संपादकीय

चीन के संबंध में भारत की नीति आरंभ से ही अदूरदर्शितापूर्ण रही है। 6 दिसम्बर 1950 को नेहरु ने देश के हित को नज़रंदाज करके चीन को सुरक्षा परिषद् की सदस्यता प्रदान करने का समर्थन किया। दूसरी भयंकर भूल मई 1951 में हुई जब चीन ने तिब्बत पर बलात् कब्जा कर लिया और भारत चुपचाप देखता रहा। हमारे प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु राजनीति में नौसखिया थे। अतः वे देशहित को साधने में असफल रहे। उन्हें देश के लाभ के स्थान पर अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को सुधारने की चिन्ता अधिक थी। प्राचीन काल से तिब्बत भारत का अटूट हिस्सा रहा था। चीन द्वारा आक्रमण कर तिब्बत को चीन का भाग बनाने जैसा पाप हमारे प्रधानमंत्री ने किया। ब्रिटिश शासनकाल में तिब्बत पर भारतीय शासन था। तिब्बत की रक्षा का दायित्व उस समय भारत का था। तिब्बत को खोकर हमने चीन जैसे शत्रु को अपना पड़ोसी बना लिया। 15 मई 1954 को चीन ने भारत के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का पंचशील समझौता किया। पटेल, लोहिया सब नेताओं ने इसका विरोध किया। सन् 1954 और 1956 में चाऊ एन लाई ने भारत के दो दौरे किए। इसी दौरान चीन ने भारत के विरोध के बावजूद उत्तरी असम और नेफा को अपने सरकारी सचित्र नक्शों में चीन का हिस्सा दिखाया। सन् 1959 में चाऊ एन लाई ने आधिकारिक रूप से नेफा और लद्दाख के 40,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को चीन का भाग बताया। इसी समय ल्हासा से दलाईलामा छिपकर भारत भाग आया और यहाँ शरण ली। इससे भारत और चीन के संबंधो में कटुता पैदा हो गई। इसके बाद सीमावर्ती क्षेत्र में दोनों देशों के बीच छुट-पुट झड़पें होती रहीं। चीन ने ब्रिटिशकाल से चली आ रही सीमा की निर्धारक मैकमोहन लाइन को

स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उस समय चाऊ एन लाई ने प्रस्ताव किया कि दोनों देशों की सेनाएँ मैकमोहन लाइन से 20-20 किमी. पीछे हट जाएँ। इस विषय में पं. नेहरु और चाऊ एन लाई की बातचीत का कोई निष्कर्ष नहीं निकला। अप्रैल-जून 1960 में चीन ने सीमा पर छुट-पुट हमले शुरू कर दिए और अग्रिम पैट्रोलिंग शुरू कर दी। इसके जवाब में पं. नेहरु ने भी चीनी सेनाओं की बढ़त को रोकने के लिए भारत की ओर से भी अग्रिम पैट्रोलिंग शुरु करवा दी।

इस समय भारतीय सेना नेफा और लद्दाख में सैनिक दृष्टि से एकदम तैयार नहीं थी। चीन की सेनाएँ अधिक सुसज्जित थीं। हमारी सीमा-चौकियों पर मात्र 10-12 सैनिक होते थे जिन्हें चीनी सैनिक परास्त कर देते थे।

20 अक्टूबर 1962 को चीन ने नेफा से लद्दाख तक भारत पर बड़े पैमाने पर हमला कर दिया। इस हमले में चीन ने अक्साइचिन पर अधिकार कर लिया। उस समय भारतीय संसद में प्रधानमंत्री नेहरु द्वारा दिया गया वक्तव्य स्मरण करने योग्य है। इस वक्तव्य से पता चलता है कि देश के प्रधानमंत्री की क्या सोच थी। नेहरु ने कहा कि वह क्षेत्र बेकार है। वहाँ घास का एक तिनका तक नहीं होता। देश की सीमाओं के महत्त्व और मूल्य को हमारे नेता नहीं समझते थे। नेता बार-बार उन्हें चेताते रहते। रक्षा-मंत्री फर्नांडीज ने सदन में कहा था "हमारा सबसे घातक शत्रु चीन है।" इस वक्तव्य को सरकार ने पसंद नहीं किया। तब नेहरु ने स्वयं को समर्थ समझते हुए जनता को उन पर विश्वास करने को कहा। जब नेहरु को सूचना दी गई कि उत्तर पूर्व में बड़ी संख्या में चीनी सैनिक निगरानी करते घूम रहे हैं। तब पं. नेहरु ने कहा था कि कोई चिन्ता की बात नहीं, मैं सब ठीक कर दूँगा, मुझ पर विश्वास रखें। फिर एक दिन समाचार मिला कि बोमदिला पर चीनी सेना का

अधिकार हो गया है और भारतीय सेना पराजित होकर पीछे हट गई है। इस तरह पं. नेहरु ने जनता का विश्वास खो दिया। सरकारी आँकड़ों के अनुसार चीन निरन्तर भारतीय सीमाओं का उल्लंघन करता रहता है। भारत के इस आरोप को चीन स्वीकार नहीं करता। इस बार भी सिक्किम के डोकलाम में लगभग ढाई-तीन महीने पूर्व से गतिरोध बना हुआ था। डोकलाम में दोनों देशों की सेनाएँ आमने-सामने डटी रहीं। चीन डोकलाम में सड़क बनाने पर उतारू था, परन्तु वह क्षेत्र भूटान का है। भारत-भूटान समझौते के अनुसार यह भारत के अधिकार क्षेत्र में है। इसलिए भारत ने चीन को सड़क के निर्माण से रोक दिया। इस विषय में 2012 की सहमति के अनुसार तीनों देशों की सीमाओं पर यथास्थिति बनाए रखी जाए। अब चूँकि चीन ने डोकलाम में सड़क बनाना रोक दिया है तथा दोनों देशों के सैनिक वापिस चले गए हैं। चीन के सड़क निर्माण से भारत की सुरक्षा को भी खतरा था। भारत के सैनिकों के सड़क निर्माण को रुकवाने के लिए बीच में आने से चीन भड़क गया। उसने कहा कि भारतीय सेना चीन की सीमा में घुस आई है। दोनों ओर से 300-300 सैनिक 120 मीटर की दूरी पर टेंट लगाकर जम गए। इधर चीन की ओर से उसके सरकारी मीडिया द्वारा युद्ध की धमकी दी जाने लगी। परन्तु विशेषज्ञों की राय थी कि व्यापारिक समीकरणों को देखते हुए चीन युद्ध नहीं करेगा। भारत ने साफ कर दिया कि वह दबाव में नहीं आएगा। चीन ने पड़ोसियों को दबाते हुए जैसे साउथ चाइना सी में दखल बढ़ाया वैसा भारत या भूटान के साथ करना चाहता था। भारत डोकलाम में चीन के सड़क निर्माण को रुकवाने का श्रेय ले सकता है। इसके बाद चीन से सीमा विवाद पर भी बातचीत तेज हो सकती है।

डोकलाम क मसले का सुलझना भारतीय कूटनीति की जीत है। अच्छा है कि दोनों देशों ने यह समझ लिया कि अपनी बात पर अड़े रहने से किसी का हित नहीं है।

सांख्य दर्शन (अध्याय-1, सूत्र-117)

-डॉ. भारत भूषण विद्यालंकार

आत्मा केवल एक है, अन्तःकरण अनन्त हैं। उन्हीं के द्वारा अनेक देह आदि के साथ एक आत्मा का संबंध संभव है। उसी के आधार पर जन्म-मरण आदि की व्यवस्था मानी जा सकती है, जैसे एक आकाश का संबंध घट, मठ आदि अनेक पदार्थों के साथ देखा जाता है। ऐसी अवस्था में अनेक आत्माओं का माना जाना व्यर्थ है। इसी के स्पष्टीकरण के लिए सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया है, सूत्र है-

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः।।117।।

अर्थ-(एवम्) इस प्रकार (आत्मा के) (एकत्वेन) एकरूप होने के द्वारा (परिवर्तमानस्य) घटित व्यवहार के (स्वीकार करने पर) (विरुद्धधर्माध्यासः) विरोधी धर्मों की प्रतीति (न) नहीं होनी चाहिए।

यदि इस प्रकार वर्तमान शरीरों में एक ही आत्मा मानी जाए और उसी आत्मा के द्वारा सारे शरीरों में सुख-दुःख भोग, बन्ध-मोक्ष आदि का होते रहना माना जाए तो लोक में प्रत्यक्ष रूप में अनुभव किए जाने वाले विरोधी धर्मों की प्रतीति न होनी चाहिए। यदि सभी जगह एक आत्मा है तो कोई जन्म लेता है, कोई मरता है, कोई सुखी है तो कोई दुखी, कोई बद्ध है तो कोई मुक्त हो चुका है इत्यादि सारी एक-दूसरे की विरोधी स्थितियाँ अस्तित्व में न आनी चाहिए। जैसे एक शरीर में एक आत्मा मानने पर विरोध प्रतीतिमूलक कोई दोष नहीं आता, ऐसे अनेक या सारे शरीरों में एक आत्मा मानने पर सभी विरोधी घटनाओं का अभाव हो जाना चाहिए। परन्तु यह संभव नहीं, इसलिए सारे शरीरों में एक आत्मा का भोक्ता-द्रष्टा के रूप में माना जाना असंभव है।।117।।

दी हिबिस्कस,
बिल्डिंग-5, एपार्ट नं.-9बी
सेक्टर-50, गुड़गाँव (हरियाणा) 122009
फोन-0124-4948597

भारतीय गणराज्य की राजभाषा हिन्दी व स्वामी दयानन्द

–स्व. पं. प्रकाशवीर शास्त्री

लगभग एक सौ बयालीस साल पहले मुम्बई में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की थी। इस बहुमुखी संगठन की नींव रखते समय उनकी दृष्टि जहाँ सामाजिक कुरीतियों के निवारण और नये राष्ट्रीय जागरण की ओर गई वहाँ देश की एकता पर भी ध्यान गया। अंग्रेज दोनों हाथों से उन दिनों देश की दौलत लूट रहे थे। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में भी वह भारत को दिवालिया बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने अच्छी संख्या में अपने दलाल छोड़ रखे थे। भाषा, वेश और सभ्यता तीनों पर उनका खुला प्रहार हो रहा था। लार्ड मैकॉले ने अपने एक सम्बन्धी को भारत में अंग्रेजी को पाँव फैलाते देख एक बार लिखा था–यदि यह ही गति रही तो वह दिन दूर नहीं जब भारतीय रंग–रूप में जरूर हिन्दुस्तानी लगेंगे, पर दिल और दिमाग दोनों से पूरी तरह वे अंग्रेज हो जाएँगे, लेकिन उस बेचारे को क्या पता था कि भारत में एक संन्यासी राष्ट्रीयता की ऐसी लहर पैदा कर देगा जो न केवल तेरे स्वप्नों को ही मिट्टी में मिलाकर रख देगा अपितु अंग्रेजीराज की नींव हिलाने में भी प्रमुख भूमिका अदा करेगा।

स्वामी दयानन्द का जन्म सौराष्ट्र की मोरवी रियासत के एक गाँव टंकारा में हुआ था। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और अध्ययन मुख्यतः संस्कृत के माध्यम से हुआ था। इसलिए गुजराती और संस्कृत पर उनका जितना

अधिकार था उतना हिन्दी पर नहीं था। अपने लिखे ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' का पहला संस्करण भी इसीलिए उन्हें रद्द करना पड़ा क्योंकि उसमें हिन्दी उतनी परिमार्जित नहीं थी जितनी दूसरे संस्करण में थी। वर्तमान 'सत्यार्थप्रकाश' की भूमिका में इसका उल्लेख भी स्वामी जी ने किया है। डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'थॉट्स ऑन पाकिस्तान' में 'सत्यार्थप्रकाश' की हिन्दी को आदर्श हिन्दी लिखा है। उनका कहना है–हिन्दी न तो इतनी क्लिष्ट हो जिसमें संस्कृत शब्दों की भरमार हो और न ही ऐसी हिन्दी हो जिसमें सरलता के नाम पर अरबी और फारसी के शब्द जबरदस्ती थोपे गये हों। 'सत्यार्थप्रकाश' में जो हिन्दी स्वामी दयानन्द ने लिखी है वह स्वाभाविक भाषा है। स्वामीजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' के अतिरिक्त भी छोटे–बड़े सब मिलाकर 37 और ग्रन्थ भी हिन्दी में लिखे हैं।

स्वामीजी के सम्पर्क में जो विदेशी आए उन्हें भी हिन्दी सीखने का परामर्श उन्होंने दिया। थियोसोफिकल सोसायटी की मदाम ब्लावाट्स्की को एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट लिखा–यदि अपने पत्र का उत्तर चाहें तो उसकी नागरी करवा कर हमें जरूर भेजें। इसी तरह एक पत्र कर्नल अलकाट को उन्होंने लिखा–मुझे यह सुनकर खुशी हुई कि आपने नागरी पढ़ना प्रारंभ कर दिया है। अपने प्रमुख शिष्य श्यामजीकृष्ण वर्मा को भी, जिन्हें छात्रवृत्ति दिलवा कर स्वामीजी ने ही विदेश पढ़ने भेजा था, वे यदा कदा लिखते रहते थे–विदेशों में अपनी भाषा के गौरव की वृद्धि का तुम्हें जरूर ध्यान रहना चाहिए। मॉरिशस, फीजी, ट्रिनिडाड, सूरीनाम, गुयाना आदि जिन देशों में प्रवासी

भारतीय रहते हैं, उनमें भी हिन्दी प्रचार का अधिकांश श्रेय आर्यसमाज को हैं।

राष्ट्रीय एकता के लिए कोई भाषा, जो पूरे देश में बोली और समझी जा सके उसे स्वामी दयानन्द जी बहुत आवश्यक मानते थे। उदयपुर में रियासत के दीवान श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने एक बार इसी प्रकार की चर्चा चलने पर स्वामी जी से पूछा-महाराज! राष्ट्र की एकता के लिए आप किन बातों को प्रमुखता देना पसंद करेंगे। स्वामीजी ने कहा-एक भाषा, एक भाव और धर्म राष्ट्रीय एकता के आधार हैं। इनमें भी भाषा पर उन्होंने विशेष बल दिया। स्वयं अपने ग्रंथों और भाषणों का माध्यम भी स्वामी जी ने हिन्दी को ही रखा। प्रारंभ में संस्कृत में भी उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखीं पर बाद में उनका भी हिन्दी में अनुवाद कर दिया। वह यह अच्छी तरह जान गये थे कि संस्कृत भारत में आज विद्वानों की भाषा तो जरूर है पर जनभाषा नहीं है इसलिए क्यों न उस भाषा का ही सहारा लिया जाए जो देश के अधिकतर भाग में बोली और समझी जाती हो। आर्यसमाज को जो राष्ट्रीयता और सुधार के कार्यक्रम स्वामी जी ने दिए उनमें हिन्दी का प्रचार और प्रसार भी मुख्य कार्य रखा। हिन्दी के लिए अपने ग्रन्थों में स्वामी जी ने आर्य भाषा शब्द का प्रयोग किया है।

एक बार स्वामीजी से ब्रह्मसमाज के नेता श्री केशवचन्द्रसेन ने कहा-महाराज! कहीं आपने अंग्रेजी और सीख ली होती तो बहुत बड़ा काम हो जाता। फिर तो वेदों का यह ज्ञान संसार के उन दूसरे देशों में भी आसानी से फैल जाता

जहाँ अंग्रेजी बोली और समझी जाती है। स्वामीजी बोले केशव बाबू! अगर आपने अंग्रेजी के साथ संस्कृत और पढ़ ली होती उससे भी बड़ा एक काम यह होता–एक और एक ग्यारह, पहले हम दोनों मिलकर अपने देश का सुधार करते और बाद में कहीं और चलने की बात सोचते। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं ने, चाहें वे गुरुकुल हों अथवा डी.ए.वी. कॉलेज, दोनों में ही प्रारंभ से शिक्षा का माध्यम हिन्दी रही थी। पंजाब में तो आर्यसमाज के प्रचार से पहले उर्दू का बोलबाला था। आपसी पत्र–व्यवहार से लेकर समाचारपत्रों तक में भी उर्दू चलती थी। आज तक भी कई पत्र उर्दू में छपते हैं। अब तो लगभग इन सभी उर्दू पत्रों के हिन्दी संस्करण भी निकल रहे हैं।

डी.ए.वी. कॉलेज के संस्थापकों में महात्मा हंसराज जी के बाद पंजाब केसरी लाला लाजपतराय का नाम प्रमुख रूप से आता है। लालाजी को गिरफ्तार कर जब माण्डले जेल भेजा गया तो उन पर जो आरोप लगा उनमें एक यह आरोप भी था। लाला लाजपतराय का सम्बन्ध उस आर्यसमाज से है जो हिन्दी के प्रचार और प्रसार को अपना राष्ट्रीय धर्म मानते हैं। उधर महात्मा मुंशीराम, जो संन्यास के बाद स्वामी श्रद्धानंद बने, हरिद्वार के पास गुरुकुल में भी विज्ञान, साहित्य, दर्शन, इतिहास आदि सभी विषय हिन्दी में पढ़ाए जाते थे।

पंजाब में हिन्दी उर्दू के इस संक्रमणकाल में उन लोगों को एक अजीबो–गरीब परेशानी से गुजरना पड़ा जो हिन्दी नहीं जानते थे।

देव दयानन्द के पथ-प्रदर्शक विरजानन्द सरस्वती

(14 सितम्बर जिनकी पुण्य तिथि है)

-लाला लाजपतराय

स्वामी विरजानन्द सरस्वती, जिनके चरणों में बैठकर दयानन्द ने अपना विद्याध्ययन समाप्त किया, संन्यासियों के उसी वर्ग के थे, जिसके अन्तर्गत स्वयं दयानन्द भी परिगणित होते थे। विपत्तियों की पाठशाला में ही उनका पालन-पोषण हुआ था। उनके माता-पिता उनसे अत्यधिक प्यार करते थे। उन्हें दरिद्रतापूर्ण जीवन बिताने के संकल्प से विरत करना चाहते थे, जिसे उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था, परन्तु इस लक्ष्य को उनके माता-पिता तो मात्र मृगमरीचिका ही मानते थे। दयानन्द ने गृह त्याग भी इक्कीस वर्ष की परिपक्व आयु में किया था, और यह निष्क्रमण स्वेच्छा से था, जिससे उनके माता-पिता को अत्यधिक दुःख तथा निराशा हुई थी, इसके विपरीत अभागा विरजानन्द तो मात्र ग्यारह वर्ष के ही थे, जब परिस्थितियों के थपेड़ों से वह संसार में इधर-उधर भटकने के लिए विवश हुए। उस समय ऐसा कोई नहीं था, जो उसकी देख-रेख करता। उनके माता-पिता की मृत्यु हो चुकी थी और वह अनाथ थे। भारत में नियमतः भाइयों का स्वभाव उदार होता है, विरजानन्द के प्रसंग में उनकी भावज का क्रूर स्वभाव तथा तीखी जबान ग्यारह वर्ष के बालक के लिये अधिक कष्टदायक एवं वेदनापूर्ण बन गये। इस अनाथ अवस्था में उनके दुःख की मात्रा उनके पूर्ण रूप से अन्धे होने से और बढ़ गई, क्योंकि चेचक के भयंकर प्रकोप के कारण उनकी आँखों की ज्योति पाँच वर्ष की आयु में ही नष्ट हो गई थी। अन्धा होने पर भी विरजानन्द इतना साहसी था कि अपनी भावज के अत्याचारों के समक्ष कभी झुकना नहीं सीखा। वेदनापूर्ण हृदय को लेकर अन्ततः उसने भाई का घर त्याग दिया। जबसे वे अन्धे हो गये थे, उनके माता-पिता विशेष देख-रेख करने

लगे थे तथा उनका अपने पुत्र के प्रति प्रेम भी बढ़ गया था। माता-पिता की मृत्यु ने उन बन्धनों और संसर्गों को तोड़ दिया जिनके कारण घर इतना आकर्षक तथा मधुर लगता था। अब उनके पास जो कुछ बचा था वह थी उनकी आत्मा, उनका मन तथा स्वयं के परिश्रम से इन शक्तियों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग। भाई का घर छोड़ने के पश्चात् वह हरिद्वार पहुँचे। गंगा के किनारे जो उत्तर भारत के सबसे सुन्दर स्थलों में एक है, जहाँ गंगा पर्वतों से निकल कर मैदानों से प्रसरित होती है। हिन्दुओं का यह सर्वाधिक पावन स्थल है जहाँ साधु, संन्यासी और विद्वान् प्रायः आते रहते हैं।

प्रकृति का आकर्षण

वस्तुतः गंगा प्रत्येक हिन्दू के लिये पूजा और प्रेम का पात्र है। सैकड़ों-हजारों हिन्दू प्रति वर्ष गंगा के निकट पुण्यलाभ हेतु आते हैं, उनमें से एक बड़ी संख्या उन लोगों की भी होती है जो हजारों मील की यात्रा नंगे पाँव करते हैं तथा गंगा के उद्गम स्थल से लेकर बंगाल की खाड़ी तक की 1500 मील की लम्बी इस भूमि में नदी के किनारों पर अनेक मन्दिर तथा पूजा, उपासना एवं अध्ययन के अनेक स्थान बने हुए हैं, परन्तु उद्गम स्थान से लेकर हरिद्वार तक का भाग तो हिन्दुओं की दृष्टि में अत्यन्त पवित्र माना गया है। गंगा के अत्यधिक धार्मिक महत्व के कारण यह धारणा प्रचलित हो गई है कि जो व्यक्ति इस नदी के किनारे प्राण त्याग करेगा, वह सीधा स्वर्ग जायेगा। गंगा की पवित्रता के प्रति एक श्रद्धालु हिन्दू का यह अतिरंजना-पूर्ण दृष्टिकोण उसके प्रकृति प्रेम पर आधारित है, क्योंकि प्रकृति की भव्यता तथा सौन्दर्य उसके हृदय में उल्लासपूर्ण प्रेम तथा रचयिता के प्रति असीम आदर का भाव उत्पन्न करते हैं। प्रेम तथा आदर का यह भाव उसे परमात्मा के प्रति ध्यान एवं मनन करने तथा उसके निकट जाने की प्रेरणा देता है। हिमालय के इस भाग को छोड़ कर जहाँ से गंगा अपने

उद्गम स्थान से निकल कर समुद्र की ओर बढ़ती है, संसार में ऐसा अन्य कोई स्थल आपको कहाँ मिलेगा जहाँ से आप प्रकृति का इतना निकट का एवं जीवित सम्पर्क प्राप्त कर सकें, जहाँ से आप प्रकृति की भव्यता, पवित्रता तथा विभिन्न रूपों में व्यक्त उसके सौन्दर्य को देख सकें। लेखक ने हिमालय के इस भाग को देखा है तथा गंगा पूर्व उसे इस बात के वास्तविक कारण का ज्ञान नहीं हुआ था कि सब नदियों में इसी गंगा नदी को हिन्दुओं ने अपने प्रेम और आदर का विशेष पात्र क्यों बनाया है?

गंगा का महत्त्व

गंगा का जल संसार में अपनी पवित्रता, मृदुता तथा लवणों के प्राचुर्य की दृष्टि से अद्वितीय है। इसकी ताजगी वर्षों तक ज्यों की त्यों रहती है। हिन्दू घरों में यह जल धार्मिक उत्सवों तथा लौकिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए प्रचुर मात्रा में सुरक्षित रखा जाता है। अपने देवताओं की सौगन्ध लेने की ही भाँति लोग गंगाजल की सौगन्ध लेते हैं। कोई भी हिन्दू गंगा-जल अपने हाथ में लेकर मिथ्या भाषण करने का साहस नहीं कर सकता। अध्ययन और चिन्तन को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले सैकड़ों विद्वान् साधु, योगी और पण्डित गंगा के तट पर निवास करते हैं। संस्कृत के कतिपय सर्वश्रेष्ठ एवं गम्भीर विद्वानों ने गंगा के तटवर्ती स्थानों पर रहकर विद्याध्ययन किया है तथा उसी ज्ञान का अन्यों को निःशुल्क वितरण भी किया है। हिन्दुओं में अध्यापन के लिये शुल्क लेने की प्रथा नहीं है। ज्ञानदान के लिए शुल्क ग्रहण करना और उस ज्ञान के लिए जो अध्यात्म से सम्बन्धित हो, गम्भीरतम कोटि का पाप माना गया है। ज्ञानदाता अपने ज्ञान को बेचता नहीं। ज्ञान का दाता और ग्रहीता ज्ञान के दान और ग्रहण को धार्मिक भावना के रूप में करते हैं तथा इसे पवित्र और सुखद कर्त्तव्य मानते हैं।

गंगातट

गुरु और शिष्य दोनों का भरण-पोषण धनी लोगों के निजी

दान द्वारा होता है। विभिन्न तीर्थस्थलों पर अनेक अन्नक्षेत्र खुले हुए हैं जहाँ दिन में दो बार भोजन उन लोगों को दिया जाता है जो अध्ययन अध्यापन के पवित्र कार्य में लगे हुए हैं। भोजन उन लोगों को भी मिलता है जो धार्मिक चिन्तन एवं ध्यान में लगे रहते हैं। दान, का यह अनवरत स्रोत तब भी बन्द नहीं होता जबकि भारत के दूसरे भागों में लाखों लोग सूखे और अकाल से ग्रस्त होकर मरते रहते हैं, इन अन्न क्षेत्रों के साथ पर्याप्त मूल्य की अचल सम्पत्ति तथा स्थायी धर्मस्व निधियाँ जुड़ी रहती है। जब कभी इस सम्पत्ति के नष्ट होने का कोई अवसर आता है, अन्य दाता सामने आते हैं तथा दान–संस्था का यह रूप निरन्तर चलता रहता है। पवित्र एवं धार्मिक साधु, संन्यासी तथा योगी लोग एकान्त स्थलों में निर्मित पर्ण कुटियों में निवास करते हैं, परन्तु छात्रों तथा तीर्थयात्रियों के निवास के लिये विशाल भवनों का निर्माण ईंट, पत्थर, चूने, गारे से किया जाता है। ये भवन धार्मिक प्रवृत्ति वाले दानदाताओं द्वारा निर्मित किये जाते हैं। यह प्रणाली अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है तथा बिना किसी बाधा के एक पीढ़ी से दूसरी पीढी में प्रचलित रही है। इसी प्रणाली का यह प्रताप है कि आज भी दरिद्र किन्तु विद्यापिपासु छात्र, जो ज्ञानरूपी जलस्रोत का गम्भीर तथा प्रचुर रूप से पान करना चाहते हैं, इन स्थानों पर एकत्रित होकर शिक्षा प्राप्त करने तथा ज्ञान का आलोक प्राप्त करने में अपने जीवन का बहुलांश व्यतीत करते हैं। परन्तु इनमें से अनेक ऐसे भी होते हैं, जो आजीवन इन्हीं स्थानों पर रहते हैं और तब तक अन्यत्र नहीं जाते जब तक उन्हें यह विश्वास नहीं हो जाता कि वहाँ रह कर वे अध्ययन की अधिक उच्चतर सुविधाएँ उपलब्ध नहीं कर लेंगे। ऐसे अध्यापक और छात्र इन स्थानों पर सम्पूर्ण जीवन ही व्यतीत कर देते हैं।

मथुरा

ऐसे ही स्थान पर विरजानन्द उस समय पहुँचे जब दुर्भाग्य

ने उन्हें अपना घर छोड़ने के लिए विवश किया। कभी न लौटने के लिए ही अपने घर से प्रस्थान किया था। कुछ ही वर्षों में उसने वह सब कुछ सीख लिया जिसे हरिद्वार के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् सिखा सकते थे। वह एक मेधावी छात्र थे, जिन्हें अद्भुत स्मरण शक्ति मिली थी। अन्धता ने स्मृति को और भी प्रखर बना दिया था। अपनी विद्वता तथा चरित्र के कारण उन्होंने जो आदर एवं सम्मान प्राप्त कर लिया था, उसी से प्रभावित होकर एक सर्वोच्च योग्यता तथा अपूर्व संयम रखने वाले संन्यासी ने, अन्धे होने के बावजूद, विरजानन्द को संन्यास की दीक्षा देना स्वीकार कर लिया था। कालान्तर में विरजानन्द इसी प्रदेश की एक अन्य पवित्र नगरी मथुरा में चले गये जो भगवान कृष्ण के जन्मस्थान के कारण प्रसिद्ध है। यहीं दयानन्द की उनसे भेंट हुई।

विरजानन्द की विशिष्टता

यह दो सजातीय आत्माओं का मिलन था, एक ही श्रेणी के दो बन्धुओं का समागम। विरजानन्द ने दयानन्द की शिक्षा को बढ़ाया। विरजानन्द के हृदय में मूर्तिपूजा के प्रति घृणा थी, इसी प्रकार अन्धविश्वासों, प्रचलित हिन्दू जीवन में व्याप्त तुच्छताओं तथा अध्यापन की परम्परागत पद्धति के प्रति भी उसके मानस में प्रचण्ड अग्नि जल रही थी। उनमें एक सच्चे मूर्तिभंजक का सा असहिष्णुता का भाव था। उनकी आत्मा में अतीत काल की महानता तथा पवित्रता के प्रति गौरव का भाव था। अनवरत परिश्रम तथा मन की निरन्तर एकाग्र वृत्ति के द्वारा उन्होंने संस्कृत भाषा और साहित्य तथा उनमें विद्यमान आध्यात्मिक कोष पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया था जो भारत के उस प्रदेश में अन्यत्र दुर्लभ था। उनकी बुद्धि सर्वोच्च कोटि की थी तथा दृष्टि स्पष्ट थी। सार वस्तुओं से निस्सार को पृथक् करने की उनमें एक सहज शक्ति थी। अपने निरीक्षण तथा अध्ययन के क्षेत्र में आने वाली प्रत्येक वस्तु की चीरफाड़ कर उसका विश्लेषण करने की शक्ति विद्यमान होने के कारण वे बड़ी सरलतापूर्वक

प्रचलित हिन्दू विचारधारा तथा हिन्दूधर्म की दुर्बलताओं का निर्देश कर देते थे। वे यह सहज ही जान लेते थे कि भूल कहाँ पर है? इसके अतिरिक्त वे नैतिक दृष्टि से निर्भीक थे। वे जो सोचते थे उसे ही अभिव्यक्त करते थे, तथा वही बात कहते जिसमें उनका विश्वास था। प्रचलित देवताओं, पूजा के प्रचलित तरीकों तथा संस्कृत अध्यापन की प्रचलित प्रणाली की उनकी आलोचना से कोई बच नहीं सकता था और यही कारण था कि प्रचलित हिन्दू धर्मोपदेशकों तथा संरक्षकों के हृदय में उनके प्रति तीव्र घृणा थी। फिर भी विरजानन्द के चरित्र की इतनी प्रतिष्ठा थी, उनकी अध्यापन शैली की इतनी प्रशंसा थी कि अन्धे होने के उपरान्त भी अध्ययन हेतु एक बड़ी छात्र मण्डली उन्हें सदा घेरे रहती थी। यह दूसरी बात है कि उनके स्वभाव की कठोरता के कारण बहुत कम विद्यार्थी पूर्ण अवधि तक उनके समीप रहकर सम्पूर्ण रूप से विद्यालाभ कर पाते थे। अकेले रहने में उन्हें कभी कोई कठिनाई भी नहीं हुई। यद्यपि धनी और शक्ति-सम्पन्न हिन्दू उन्हें पसन्द नहीं करते थे किन्तु वे ही लोग उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते थे और उनकी सेवा करते थे। उनका अपना निवास-स्थान था जहाँ उन्हें नियमित रूप से भोजन एवं वस्त्र प्राप्त होते थे।

राजपूताना के तीन राजा भिन्न-भिन्न अवसरों पर उनके शिष्य बने थे। इनमें से एक ने निरन्तर तीन वर्ष तक अपना अध्ययन जारी रखा था, किन्तु जब एक दिन वे अध्ययन हेतु उपस्थित नहीं हुए तो विरजानन्द बिना सूचना दिए वहाँ से मथुरा लौट गये। एक अन्य प्रथम श्रेणी के राजा ने उन्हें संस्कृत व्याकरण का एक सरल ग्रन्थ उनके निजी उपयोग के लिए बनाने हेतु कहा, किन्तु स्वामी विरजानन्द ने इसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनकी धारणा थी कि ऐसा करना, व्याकरण विषय पर लिखे गये ऋषियों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अपमान होगा।

गुरु दक्षिणा

इसी व्यक्ति के निकट बैठकर दयानन्द ने अपना अध्ययन पूरा किया तथा इसी से उन्होंने हिन्दूधर्म में व्याप्त उन सम्पूर्ण विकृतियों को दूर करने का संकल्प ग्रहण किया जो उसमें प्रविष्ट हो गई हैं। दयानन्द तो तीस वर्ष तक निरन्तर पढ़ ही रहा था, अब तो किसी उच्च शिक्षक से उनकी विद्या को परिष्कृति का स्पर्श ही दिया जाना था। अढ़ाई वर्ष तक दयानन्द विरजानन्द की सेवा में रहे, पुत्रोचित रीति से उनकी सुश्रूषा की तथा गुरु से वह सब कुछ सीखा जो आवश्यक था। विरजानन्द उग्र प्रकृति के व्यक्ति थें तथा यदा कदा अपने शिष्यों के प्रति उनका व्यवहार कठोरतापूर्ण हो जाता था। एक बार तो उन्होंने स्वामी दयानन्द को सचमुच शारीरिक दण्ड ही दे डाला, दयानन्द को गुरु के प्रति कोई विरक्ति नहीं हुई और उन्होंने गुरु निर्दिष्ट पाठ्यक्रम को पूरा किया। इसके उपरान्त विरजानन्द ने शिष्य से कहा कि अब उनके पास इससे अधिक और कुछ पढ़ाने के लिए शेष नहीं है तथा उन्हें संसार में एक स्वतन्त्र उपदेशक के रूप में प्रविष्ट होने का आदेश दिया।

विदाई का दिन गुरु और शिष्य दोनों के लिये स्मरणीय था। इसी दिन विरजानन्द ने अपने शिष्य से गुरु दक्षिणा माँगी, जो प्राचीन काल में अध्ययन समाप्ति के समय शिष्य द्वारा गुरु को दी जाती थी। विरजानन्द यह जानते थे कि दयानन्द के पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका लौकिक मूल्य हो, और न उन्हें किसी ऐसी वस्तु की चाह ही थी। उसने शिष्य से अपने जीवन को सत्य के प्रचार में लगाने, पौराणिक धर्म की प्रचलित मिथ्या बातों को नष्ट करने तथा बुद्धपूर्व युग की शिक्षा प्रणाली को पुनः प्रचलित करने में लगाने की प्रतिज्ञा ली। दयानन्द ने इस प्रतिज्ञा को स्वेच्छा से तथा आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। मानव इतिहास में सम्भवतः कोई अन्य प्रतिज्ञा इतनी निष्ठा के साथ नहीं निभाई गई जैसी दयानन्द द्वारा पूरी की गई।

हम कब तक विदेशी भाषा के गुलाम रहेंगे?
(14 सितम्बर हिन्दी दिवस पर विशेष)

-शिवकुमार गोयल

देश को आजाद हुए कई दशक बीतने के बाद भी अंग्रेजी भाषा हमें गुलाम बनाये हुए है। सबसे ज्यादा दुःख तो उस समय होता है जब हिन्दी भाषी राज्यों-विशेषकर उत्तरप्रदेश में भी राष्ट्रभाषा हिन्दी की जगह हम अंग्रेजी भाषा का धड़ल्ले से प्रयोग होता हुआ देखते हैं। विवाह, मुण्डन, गृह प्रवेश जैसे संस्कारों के निमन्त्रण पत्र भी हम अंग्रेजी में छपवाने में गर्व महसूस करते हैं। एक बार प्रसिद्ध रूसी विद्वान डॉ. बारान्निकोव मुझसे मिलने गाजियाबाद आए तो वे बोले- 'मैं हिन्दी के गढ़ उत्तरप्रदेश के कुछ नगरों का सर्वेक्षण कर रहा हूँ कि वहाँ विदेशी भाषा अंग्रेजी की क्या स्थिति है। मुझे यह देखकर बहुत दुःख हुआ कि गाजियाबाद, मेरठ, आगरा, बरेली, मुरादाबाद, इलाहाबाद जैसे नगरों में वहाँ के बाजारों में हिन्दी की जगह अंग्रेजी के ज्यादा नामपट्ट देखने को मिले। सरकारी बैंक, व्यापारिक संस्थान आदि भी अंग्रेजी को ज्यादा महत्त्व देते हैं- जबकि राष्ट्र-भाषा हिन्दी की उपेक्षा करते हैं। उन्हें इस प्रवृत्ति पर बहुत दुःख था। डॉ. बारानिन्नकोव मेरे सामने कुर्सी पर बैठे थे कि एक सज्जन गृह-प्रवेश का निमन्त्रण-पत्र लेकर आ गए। अंग्रेजी में छपे उस निमन्त्रण-पत्र को देखकर रूसी विद्वान् का चेहरा गुस्से से तमतमा उठा। वे बोले 'गोयल जी, मैं इस बात पर आश्चर्यचकित हूँ कि हिन्दुस्तान के लोग अंग्रेजी भाषा के गुलाम क्यों बने हुए हैं। मेरे देश रूस में तो किसी भी विदेशी भाषा को इस प्रकार सहन नहीं किया जा सकता। अपने-अपने क्षेत्र की स्थानीय भाषाओं को ही वहाँ महत्त्व दिया जाता है।

एक बार समाजवादी चिन्तक डॉ. राममनोहर लोहिया तथा प्रखर प्रकाशवीर शास्त्री ने अंग्रेजी के निमन्त्रण-पत्र वाले कार्यक्रमों के बहिष्कार का आह्वान किया था। उस समय मैंने भी संकल्प लिया था कि अंग्रेजी भाषा के निमन्त्रण पत्र पर किसी भी समारोह में शामिल नहीं होऊँगा। मेरे एक निकट सम्बन्धी को जब मेरे इस निश्चय का पता चला तो उन्हें अंग्रेजी के छपे निमन्त्रण-पत्र रद्दी की टोकरी में फेंककर हिन्दी में निमन्त्रण-पत्र छपवाने पड़े थे। प्रकाशवीर शास्त्री को एक

विवाह में निमन्त्रण देने आये एक संभ्रान्त व्यक्ति को भी अंग्रेजी निमन्त्रण-पत्र रद्द कर हिन्दी में छपवाने पड़े थे। काश हिन्दी प्रेमी इस प्रकार का संकल्प ले लें तो अंग्रेजी में निमन्त्रण-पत्र छपवाने की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण जरूर किया जा सकता है। अंग्रेजी भाषा के कारण हमारे पूर्वजों के नाम पर रखे गए स्थलों की भी किस प्रकार दुर्दशा हो रही है इसे भी हमें समझ लेना चाहिए।

1857 के महान स्वाधीनता सेनानी तात्या टोपे के नाम पर भोपाल में 'तात्या टोपे नगर' कालोनी बसाई गई। अंग्रेजी ने उस महान शहीद की स्मृति पर पानी फेर डाला तथा भोपाल के लोग उसे 'तात्या टोपे नगर' की जगह टी.टी. नगर' कहते हैं। इसी प्रकार दिल्ली का 'महात्मा गाँधी मार्ग' एम. जी. मार्ग बना दिया गया है।

स्वातन्त्र्यवीर सावरकर जी ने एक स्थान पर लिखा था- 'मेरे माँ-बाप ने मेरा नाम 'विनायक दामोदर सावरकर रखा था। उनकी विघ्न विनाशक गणेश जी में आस्था थी तथा दामोदर मेरे पिताश्री का नाम था। किन्तु अंग्रेजी ने उसे 'वी.डी.' कर डाला। अर्थात् मेरे पूर्वजों के नामकरण मे जो मन्तव्य था- उस पर पानी फेर दिया।' हमारे देश में नामकरण के पीछे इतिहास होता है। प्रख्यात संस्कृत विद्वान् गंगानाथ झा ने लिखा था- 'मेरी माँ ने गंगा जी की मनौती की थी कि यदि पुत्र हुआ तो उसका नाम 'गंगानाथ' रखूँगी, किन्तु अंग्रेजी भाषा ने मुझे 'जी.एन.झा' बना दिया। इस पर मेरी माँ ने एक दिन मेरा एक सर्टिफिकेट फाड़कर फेंक दिया और चेतावनी दी कि भविष्य में 'गंगानाथ' लिखूँ।

अंग्रेजी भाषा ने महाराज अशोक को 'अशोका' कर्नाटक को 'कर्नाटका' और तो और कालिदास को कालिदासा बना डाला है। 'संत विवेकानन्द' की जगह 'सेन्ट विवेकानन्दा' पढ़कर लगता है कि अंग्रेजी भाषा न जाने अभी और क्या-क्या गुल खिलाएगी। कहीं वह भारत को 'भारता' कहीं राम को रामा, कृष्णा बना देती है तो कहीं 'शिव' को 'शिवा'। अंग्रेजी भाषा को इस प्रकार अपने अवतारों, पूर्वजों तथा देश के पवित्र स्थलों के नामों के साथ खिलवाड़ करते रहने की हम कब तक छूट देते रहेंगे?

रामशरणदास भवन, मौ. बीचपट्टी,
पिलखुवा, (हापुड़)

बर्बर (असभ्य) लोगों की अपनी भाषा नहीं होती

इतिहास के प्रकांड पंडित डॉ. रघुवीर प्रायः फ्रांस जाया करते थे। वे सदा फ्रांस के राजवंश के एक परिवार के यहाँ ठहरा करते थे।

उस परिवार में एक ग्यारह साल की सुंदर लड़की भी थी। वह भी डॉ. रघुवीर की खूब सेवा करती थी। अंकल-अंकल बोला करती थी।

एक बार डॉ. रघुवीर को भारत से एक लिफाफा प्राप्त हुआ। बच्ची को उत्सुकता हुई। देखें तो भारत की भाषा की लिपि कैसी है। उसने कहा अंकल लिफाफा खोलकर पत्र दिखाएँ। डॉ. रघुवीर ने टालना चाहा। पर बच्ची जिद पर अड़ गई। डॉ. रघुवीर को पत्र दिखाना पड़ा। पत्र देखते ही बच्ची का मुँह लटक गया। अरे, यह तो अंग्रेजी में लिखा हुआ है। क्या आपके देश की कोई भाषा नहीं है?

डॉ. रघुवीर से कुछ कहते नहीं बना। बच्ची उदास होकर चली गई। माँ को सारी बात बताई। दोपहर में हमेशा की तरह सबने साथ-साथ खाना तो खाया, पर पहले दिनों की तरह उत्साह चहक-महक नहीं थी।

गृहस्वामिनी बोली डॉ. रघुवीर आगे से आप किसी और जगह रहा करें। जिसकी कोई अपनी भाषा नहीं होती उसे हम फ्रेंच लोग बर्बर कहते हैं। हम ऐसे लोगों से कोई संबंध नहीं रखते। गृहस्वामिनी ने उन्हें आगे बताया "मेरी माता लॉरेंन प्रदेश के ड्यूक की कन्या थी। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व वह फ्रेंच भाषी प्रदेश जर्मनी के अधीन था। जर्मन सम्राट् ने वहाँ फ्रेंच के माध्यम से शिक्षण बंद करके जर्मन भाषा थोप दी थी।

फलतः प्रदेश का सारा कामकाज एकमात्र जर्मन भाषा में होता था, फ्रेंच के लिए वहाँ कोई स्थान न था।

स्वभावतः विद्यालय में भी शिक्षा का माध्यम जर्मन भाषा ही थी। मेरी माँ उस समय ग्यारह वर्ष की थी और सर्वश्रेष्ठ कान्वेंट विद्यालय में पढ़ती थी।

एक बार जर्मन साम्राज्ञी कैथराइन लोरेन का दौरा करती हुई उस विद्यालय का निरीक्षण करने आ पहुँची। मेरी माता अपूर्व सुंदरी होने के साथ-साथ अत्यंत कुशाग्र बुद्धि भी थीं। सब बच्चियाँ नए कपड़ों में सजधज कर आई थीं। उन्हें

पंक्तिबद्ध खड़ा किया गया था।
बच्चियों के व्यायाम, खेल आदि प्रदर्शन के बाद सम्राज्ञी ने पूछा कि क्या कोई बच्ची जर्मन राष्ट्रगान सुना सकती है? मेरी माँ को छोड़ वह किसी को याद न था। मेरी माँ ने उसे ऐसे शुद्ध जर्मन उच्चारण के साथ बहुत सुंदर ढंग से सुनाया। सम्राज्ञी ने बच्ची से कुछ इनाम माँगने को कहा। बच्ची चुप रही। बार-बार आग्रह करने पर वह बोली 'महारानी जी, क्या जो कुछ मैं माँगूगी वह आप देंगी?' सम्राज्ञी ने उत्तेजित होकर कहा 'बच्ची! मैं सम्राज्ञी हूँ। मेरा वचन कभी झूठा नहीं होता। तुम जो चाहो माँगो। इस पर मेरी माता ने कहा 'महारानी जी, यदि आप सचमुच वचन पर दृढ़ हैं तो मेरी केवल एक ही प्रार्थना है कि अब आगे से इस प्रदेश में सारा काम एकमात्र फ्रेंच में हो, जर्मन में नहीं।'
इस सर्वथा अप्रत्याशित माँग को सुनकर साम्राज्ञी पहले तो आश्चर्यचकित रह गई, किन्तु फिर क्रोध से लाल हो उठी। वे बोलीं 'लड़की' नेपोलियन की सेनाओं ने भी जर्मनी पर कभी ऐसा कठोर प्रहार नहीं किया था, जैसा आज तूने शक्तिशाली जर्मनी साम्राज्य पर किया है।
साम्राज्ञी होने के कारण मेरा वचन झूठा नहीं हो सकता, पर तुम जैसी छोटी सी लड़की ने इतनी बड़ी महारानी को आज पराजय दी है, वह मैं कभी नहीं भूल सकती।
जर्मनी ने जो अपने बाहुबल से जीता था, उसे तूने अपनी वाणी मात्र से लौटा लिया।
मैं भलीभाँति जानती हूँ कि अब आगे लॉरेन प्रदेश अधिक दिनों तक जर्मनों के अधीन न रह सकेगा।
यह कहकर महारानी अतीव उदास होकर वहाँ से चली गईं।
गृहस्वामिनी ने कहा 'डॉ. रघुवीर, इस घटना से आप समझ सकते हैं कि मैं किस माँ की बेटी हूँ।
हम फ्रेंच लोग संसार में सबसे अधिक गौरव अपनी भाषा को देते हैं। क्योंकि हमारे लिए राष्ट्र-प्रेम और भाषा-प्रेम में कोई अंतर नहीं।
हमें अपनी भाषा मिल गई तो आगे चलकर हमें जर्मनों से स्वतंत्रता भी प्राप्त हो गई। आप समझ रहे हैं ना!

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटे न हिय की शूल"।

शिक्षा का माध्यम–मातृभाषा

–आनन्दस्वरूप गर्ग

आज देश में सर्वत्र अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा दिए जाने का रिवाज चल पड़ा है। इसके कारण देश में वह स्थिति बन गई है जो अंग्रेज भी नहीं बना पाए थे। अंग्रेजों के राज में उनकी भाषा पढ़ना अनिवार्य था किन्तु उन्होंने कभी भी किसी विद्यालय में तीन चार वर्ष के बच्चों को अंग्रेजी पढ़ने को विवश नहीं किया था। सभी प्राथमिक विद्यालयों में मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम होती थी तथा अंग्रेजी प्राथमिक कक्षा के बाद ही शुरू होती थी। इससे बच्चों पर अस्वाभाविक बोझ नहीं पड़ता था। माध्यमिक कक्षाओं में भी शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होती थी। सरकारी विद्यालय बहुत कम होते थे और लोग मिलजुलकर अपने विद्यालय खोलते थे।

आज जो हम अंग्रेजी को सिर पर बैठाकर अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा देने के विद्यालय चला रहे हैं। ये बच्चों पर मनौवैज्ञानिक रूप से बहुत बुरा प्रभाव छोड़ रहे हैं। बच्चों में अपनी भाषा से अरुचि तथा विदेशी भाषा से मोह बढ़ता जा रहा है। स्वामी दयानन्द तथा महात्मा गाँधी ने अपनी भाषा में ही शिक्षा देने की बात कही थी। गाँधी ने तो अंग्रेजों के जाने के बाद कह दिया था कि कह दो 'गाँधी अंग्रेजी भूल गया है।' आज उसी गाँधी और दयानन्द के अनुयायी देश में अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा द्वारा एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर रहे हैं जो भविष्य में वर्ग विभेद ही नहीं, अराजकता का कारण भी बन सकता है। संविधान में अंग्रेजी को दूसरा स्थान तथा हिन्दी को प्रथम स्थान दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 343 से 351 में हिन्दी को राजभाषा का पद दिया गया है तथा उसके विकास के लिए सरकार को बाध्य किया गया है।

सरकार भटकी हुई है तथा आज तक कोई शिक्षा नीति छात्रों के हित को ध्यान में रखकर नहीं बनाई गई है। अनेक आयोग बने परन्तु सब की रिपोर्ट अलमारियों में धूल चाट रही हैं। सभी शिक्षाविद एकमत हैं कि शिक्षा मातृभाषा में होनी चाहिए, फिर भी आज तक देश के बच्चों को अनिवार्य रूप से

अंग्रेजी पढ़ाई जा रही है। बहुत कम लोगों को पता होगा कि देश में एक नेशनल ओपन स्कूल भी है जो बिना अंग्रेजी भाषा के भी कक्षा दस तथा बारह की परीक्षाओं में छात्रों की परीक्षा लेकर उन्हें प्रमाण-पत्र देता है तथा ये छात्र आगे चलकर इंदिरा गाँधी ओपन विश्वविद्यालय से बी.ए. की परीक्षा भी बिना अंग्रेजी के दे सकते हैं। इस प्रणाली से अनेक युवक-युवतियाँ लाभान्वित हो रहे हैं तथा अपना जीवन यापन कर रहे हैं। क्या सरकार इस योजना को सभी विद्यालयों में लागू नहीं करा सकती। अंग्रेजी महान भाषा है किन्तु स्वतंत्र देश में अनिवार्य रूप से अंग्रेजी पढ़ाना देश को फिर से गुलामी की ओर ले जाना ही कहा जाएगा।

चीन गणराज्य का उदाहरण हमारे सामने है और हम सब जानते हैं कि उन्होंने हमसे बाद 1949 में स्वतंत्रता प्राप्त की थी और आज वे सभी क्षेत्रों में हमसे अग्रणी हैं। ऐसा चीन के लोगों के कठोर परिश्रम तथा उनके शासकों द्वारा वहाँ की निर्बल तथा पददलित जनता को उठाने के प्रति पूर्ण ध्यान देने के कारण ही संभव हुआ है। चीन के छात्रों की शिक्षा का माध्यम वहाँ की मातृभाषा ही है। चीन में आयुर्विज्ञान (मेडिकल) की शिक्षा भी अंग्रेजी में नहीं किन्तु छात्रों की मातृभाषा के माध्यम चीनी भाषा में दी जाती है। इसका पता मुझे तब लगा जब मैंने अपने एक बच्चे की आयुर्विज्ञान की पुस्तक "हैरिसंस प्रिंसिपल्ज ऑफ इंटरनल मेडिसिन' के पन्द्रहवें संस्करण के प्रथम खण्ड के पृष्ठ 4 को देखा। इस पुस्तक का प्रकाशन अमेरिका की सुप्रसिद्ध कम्पनी मैक्ग्रा हिल ने किया है। वह अंग्रेजी के अन्तर्राष्ट्रीय संस्करण के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के संस्करण भी छापकर उपलब्ध करा रही है। इन भाषाओं में अरबी, चीनी, क्रोएशियन, फ्रेंच, जर्मन, ग्रीक, इटैलियन, जापानी, पोलिश, पौर्चुगीज, रोमेनियन, स्पेनिश तथा तुर्की सम्मिलित हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि यूरोप के 11 राज्य अपनी मातृभाषाओं में अपने छात्रों को आयुर्विज्ञान की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं जबकि एशिया के केवल तीन देश सऊदी अरब, चीन और जापान ही इस यूरोपियन परम्परा का

निर्वहण कर रहे हैं। भारत की किसी भी भाषा का इस सूची में नाम नहीं है। कई शताब्दियों तक ब्रिटिश शासन में रहने के कारण हमारे राजनेताओं को कभी सपने में भी ध्यान आया कि छात्रों को मातृभाषा में उच्च शिक्षा देना सरल, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक दृष्टि से लाभकारी है। हमें आशा है कि अब हमारी सरकार जागेगी और समय की आवाज को पहचान कर तथा विश्व में सर्वत्र मान्य 'मातृभाषा में शिक्षा' देने के सिद्धांत को स्वीकार करेगी।

सभी प्रदेश सरकारें अंधी होकर अंग्रेजी के पीछे भाग रही हैं। अटल बिहारी बाजपेयी की सरकार द्वारा संविधान में संशोधन कर देने के कारण सभी प्रदेश सरकारों पर 6 से 14 वर्ष की आयु वर्गके सभी बच्चों को मातृभाषा में निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का संवैधानिक दायित्व आ गया। पहले यह केवल 'दिशा निर्देशक तत्वों' के अन्तर्गत लिखा हुआ था किन्तु अब वहाँ से निकालकर इसे 'मूल अधिकारों की सूची में डाल दिया गया है। इससे राज्य सरकारों के वित्त विभाग पर अतिरिक्त भार भी पड़ने वाला है। केन्द्र सरकार अभी दिग्भ्रमित है तथा अभी तक निश्चित नही कर पाई है कि इस संशोधन के कारण वह किस माध्यम द्वारा बच्चों को शिक्षा देगी। हमारा भारत महान है, पर भारतीय बच्चे गलियों में खेलने को विवश हैं, क्योंकि आज तक सभी बच्चों के लिए पर्याप्त विद्यालय उपलब्ध नहीं हैं तथा योग्य शिक्षकों की भारी कमी है।

हमें समय रहते जागना होगा तथा पुनर्विचार करना होगा कि हमारे बच्चे कब तक अंग्रेजी की गुलामी करते रहेंगे। यदि इस प्रवृत्ति को तत्काल नहीं रोका गया तो देश में जो नया वर्ग पैदा हो रहा है उसकी तानाशाही के विरुद्ध अनपढ़ और निर्धन जनता के रोष को रोकना संभव नहीं होगा। क्या दयानन्द और गाँधी के सपनों का भारत कभी अस्तित्व में आ पाएगा?

मातृभाषा विकास परिषद, के–1,
आनन्द पर्वत, नई दिल्ली–05

"अंतिम संस्कार और पर्यावरण" ऐसी भी हैं वैदिक सिद्धान्तसिक्त सन्तानें

-प्रियवीर हेमाइना

सुप्रसिद्ध कर्मयोगी समाजसुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपने निर्वाण से पूर्व जो वसीयतनामा अपनी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा को दिया उसमें उन्होंने अपने अन्त्येष्टि संस्कार के बारे में भी स्पष्ट लिखा था-

"जैसे इस सभा को मेरी और मेरे सब पदार्थों की यथाशक्ति रक्षा और उन्नति करने का अधिकार है वैसे ही उसे मेरे मृतक शरीर के संस्कार का भी है। उसे न तो गाड़ा जाय, न जल में प्रवाहित किया जाय और न जंगल में कहीं फेंका जाय। 'संस्कारविधि' में वर्णित वेद विहित विधि से वेदी बनाकर वेदमंत्रों से शव को भस्म किया जाय! वेद-विरुद्ध कुछ भी न किया जाए। भस्म खेत में डाल दी जाय।"

महर्षि जी की उक्त अभिलाषा के अनुरूप ही उनका अन्त्येष्टि संस्कार उनके भक्तों द्वारा किया गया था और उनके अस्थि-अवशेषों को अजमेर स्थित शाहपुरा के बाग की भूमि (खेत) में ही गाड़ दिया गया था।

इसका अभिप्राय यही है कि अपने अन्त्येष्टि संस्कार के विषय में महर्षि ने जैसी विधि लिखी थी। विधि से अन्त्येष्टि संस्कार करना सर्वश्रेष्ठ है। इसी विधि को व्यवहार-क्षेत्र में उतारना आज अत्यावश्यक है क्योंकि यही विधि पर्यावरण प्रदूषण को नियंत्रित करने में सहायक बनेगी। पर्यावरण को शुद्ध-स्वच्छ रखना हम सभी का सामाजिक दायित्व है। पर्यावरण बचेगा तो हमारा अस्तित्व बचेगा। पर्यावरण को शुद्ध तथा स्वच्छ बनाकर ही नागरिक सुखी, शान्त तथा आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

ऐसा नहीं कि महर्षि द्वारा बताई गई विधि से अन्त्येष्टि संस्कार करने वाले आज नहीं है, हैं और अवश्य हैं जिसका केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त है। हाल ही में उत्तरप्रदेश

के बागपत जनपद के ऐतिहासिक स्थान "वारणावत" (बरनाला), जहाँ पाण्डवों को जलाने के लिए दुर्योधन ने लाक्षागृह बनवाया था, के पास फज़लपुर (सुन्दर नगर) नामक गाँव की आर्यसमाज के मंत्री श्री विनोद कुमार आर्य के पूज्य पिता श्री आशाराम जी का अन्त्येष्टि संस्कार पूर्णतः वैदिक विधि से 18 नवम्बर 2016 को खेत में किया।

दाहकर्म के तीसरे दिन 20 नवम्बर को आर्य पुरुषों ने चिता से अस्थिसंचय कर, अस्थि अवशेषों को भूमिसात किया। वहीं श्रद्धापूर्वक एक पौधा भी लगा दिया गया जिससे वातावरण शुद्ध होता रहे! भस्म भी खेत में ही बिखेर दी गई।

धन्य हैं ऐसी वैदिकसिद्धान्तसिक्त सन्तानें जो अपने सर्वश्रेष्ठ वैदिक सिद्धान्तों एवं परम्पराओं को व्यवहार-क्षेत्र में निष्ठापूर्वक उतार रही हैं और पर्यावरण के संरक्षण के सम्बन्ध में प्रेरणा की स्रोत भी बन रही हैं। किम् बहुना? अगर संस्कार-पद्धति के रहस्य को समझकर हर माता-पिता प्रण कर लें कि वे सन्तान में ऐसे ही संस्कार डालेंगे ताकि एक नये सुसंस्कृत युग का आगमन हो। जैसी सन्तानें होंगी वैसा ही युग होगा। माता-पिता तथा समाज के मस्तिष्क को बदलकर ही हिटलर ने मात्र बीस बरस में ही एक अद्भुत सुसंस्कारी युवा-पीढ़ी- का निर्माण किया। यह नई पीढ़ी उन्हीं विचारों, संस्कारों का मूर्त-रूप थी जो सारे जर्मनी में एक लहर की तरह बहने लगी थी।

काश! कहीं आर्यावर्त में भी कश्मीर से कन्याकुमारी तक ऐसी ही सुसंस्कारी सन्तानें दिखाई पड़ें और इसका जगद्गुरुत्व पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाए और वैदिक आर्य संस्कृति-सभ्यता अपने पुरातन गौरवमय स्वरूप को धारण कर विश्व का पथ-प्रदर्शन कर सके। ईश्वर हमारे राष्ट्रनायकों को इस सम्बन्ध में सुमति प्रदान करें।

318, विपिन गार्डन, नई दिल्ली-110059
नई दिल्ली-7503070674

राजभाषा के रूप में हिन्दी

–प्रो. जी. सुन्दर रेड्डी

विश्व के स्वतन्त्र देशों की भाँति ही आज स्वतन्त्र होने के बाद सम्पूर्ण देश के महापुरुषों ने स्वतन्त्रता के बाद देश में जनता की बोल–चाल की भाषा हिन्दी को सरकार के कामकाज की भाषा बनाने पर विचार किया और फिर वह दिन आया जब 14 सितम्बर हिन्दी दिवस के रूप में मान्य हुआ।

निस्संदेह भारत अपनी भाषिक एवं सामाजिक संरचना तथा भौगोलिक विविधता के कारण भाषा एवं सामाजिक शोधार्थियों के लिए अध्ययन का एक समस्यामूलक विषय बना हुआ है। संसार के और किसी देश में इतनी वैविध्यपूर्ण जातियों, धर्मों एवं संस्कृतियों का संगम नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप भारत में बोली जाने वाली भाषाओं एवं बोलियों और उनके बोलने वाले समुदायों की विविधता और संख्या को दृष्टि में रखते हुए भारत को संसार का एक छोटा–सा म्यूजियम कहा जा सकता है। वस्तुतः समूचे दक्षिण–पूर्व एशिया में भारत ही एक बहुभाषी क्षेत्र है जो विविधता में एकता के सूत्र में बंधा हुआ है।

भारतीय भाषाओं के इतिहास में प्राचीन आर्यभाषा संस्कृत के बाद जिन दूसरी अखिल भारतीय भाषाओं का उल्लेख हमें मिलता है और जिनका साहित्य आज उपलब्ध है, वे हैं– पालि, बौद्धों की धर्म भाषा और धर्ममागधी, जैनों की धर्मभाषा। महावीर और बुद्ध के समय से कुछ पूर्व ही प्राचीन वैदिक परम्परा के विरोध में एक नवीन जन–क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था, जिसका मूल स्वर तो ब्राह्मणवाद से सम्बन्धित कर्मकाण्ड का विरोध था, किन्तु संस्कृत चूँकि मूलतः इन्हीं से जुड़ी हुई थी अतः प्रारम्भ से जैनों और बोधों ने संस्कृत का भी विरोध किया। अतएव संस्कृत के विरोध में जैनियों ने अर्धमागधी को तथा बौद्धों ने पालि को धर्म प्रचार के लिए स्वीकृत किया। इस प्रकार 600 ई. पू. के आसपास संस्कृत के साथ–साथ पालि और अर्धमागधी भाषाओं में हमें साहित्य सृजन की परम्परा मिलने लगती है।

यद्यपि मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत में अनेक जातियाँ

प्रविष्ट हुईं, किन्तु वे सभी भारतीय समाज एवं संस्कृति में धीरे-धीरे घुल मिल गईं। मुसलमानों के भारत में आगमन के बाद जो घटना घटित हुई, वह थी अरबी और फारसी के रूप में दो विदेशी शासकीय भाषाओं का भारत में प्रचार और प्रसार। प्रारंभ में तो मुसलमान शासकों ने भारत में पूर्व प्रचलित भारतीय भाषा का ही प्रशासन में प्रयोग किया। किन्तु बाद में राजभाषा के रूप में पहले अरबी और फारसी का ही सभी मुसलमान शासकों ने प्रयोग किया तथा मुगल शासन के विघटन के बाद उर्दू को भी कहीं-कहीं राजकाज के लिए स्वीकार किया गया। किन्तु बहुत से मुसलमान के आक्रमण अलग-अलग जातियों के थे और संख्या में कम थे, उनकी भाषा भी एक न थी, इसलिए वे भारत की प्रमुख जातियों के मुकाबले में अपनी जातीयता की रक्षा न कर सके और उन्हीं में घुल-मिल गए। आज भी बंगाल का मुसलमान बंगला बोलता है और पंजाब का पंजाबी। केरल का मलयालम बोलता है और तमिलनाडु का तमिल।

कई सौ वर्षों तक फारसी दिल्ली की राजभाषा रही और ईरान के सांस्कृतिक प्रभुत्व के कारण हिन्दी-भाषी मुसलमान फारसी सीखते रहे। उत्तर भारत ईरानी और अरबी संस्कृति से प्रभावित था। यही कारण है कि हिन्दी में फारसी के शब्द क्रमशः बढ़ते गए। हम देखते हैं कि चौहदवीं सदी में मुहम्मद तुगलक ने जब देवगिरि को अपनी राजधानी बनाया तब काफी संख्या में दिल्ली और उत्तर भारत के लोग वहाँ जाकर बस गए। वहाँ जिस आर्यभाषा (हिन्दवी) का विकास हुआ, वही बाद में चलकर दक्खिनी के नाम से विख्यात हुई। उन्हीं दिनों वहाँ बहमनी राज्य की स्थापना हुई। विख्यात इतिहास "तारीखे फरिस्ता" के अनुसार बहमनी बादशाह के राज्य में कार्यालय में हिसाब किताब हिन्दी भाषा में रखा जाता था। ख्वाजा बन्दा नवाज गैसूदराज सूफी थे। वे सूफी फकीर निजामुद्दीन औलिया के खलीफा ख्वाजा नासिरुद्दीन चिराग देहलवी के मुख्य शिष्य थे। सन् 1412 ईसवीं के लगभग वे गुलबर्गा चले गए और वहीं रहने लगे। वे साधारण जनता के लिए अपने विचार हिन्दी

में प्रकट किया करते थे। सूफी मत के अनन्य प्रचारक शाह मीरानजी ने अपनी भाषा को हिन्दी कहा है और यह भी लिखा है कि मेरी रचनाएँ उन लोगों के लिए हैं जो अरबी फारसी नहीं जानते। शाह मीरानजी की रचनाओं का एक नमूना इस प्रकार है –

ना उस रूप ना उस देह ना उस थान मकान।
निरगुन गुनवन्ता किस मुख कंस बखान।।
न मुझ लोभे पाट-पितम्बर यह जर जमीं सिंगार।
पाटी फूटी कम्बली नीकी फटज लिहाफ हमार।।

मुस्लिम साम्राज्य के दक्षिण भारत में विस्तार के साथ हिन्दी का प्रसार आन्ध्र, कर्नाटक आदि प्रदेशों में भी हुआ। अलाउद्दीन ने 1292 ई. में दक्षिण भारत के देवगिरि पर आक्रमण किया। मुहम्मद तुगलक के समय दक्षिण का अधिकांश भाग उस साम्राज्य के अधीन हो गया, जिसे उसने पाँच भागों में विभाजित किया। उसने देवगिरि या दौलताबाद को अपनी राजधानी बनाया। उसके साथ बहुत बड़ी संख्या में दिल्ली के मुसलमानों और हिन्दुओं का दक्षिण में जाना हुआ। उनका एक बड़ा समुदाय दक्षिण में स्थायी रूप से बस गया। किन्तु उनसे पूर्व ही अलाउद्दीन के राजत्वकाल में खड़ी बोली, बोलने वाले हिन्दू और मुस्लिम राजकर्मचारियों, सैनिकों और व्यापारियों के दल दक्षिण भारत में फैल चुके थे। बाद में अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर में निजामशाही, आदिलशाही, कुतुबशाही और बारीदशाही वंशों ने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। परिणाम यह हुआ कि दक्षिण में खड़ी बोली न केवल जड़ पकड़ती गई, बल्कि यह वहाँ के साहित्यक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों का स्वाभाविक अंग बन गई। वहाँ "दक्खिनी" के नाम से खड़ी बोली का विपुल साहित्य रचा गया। इसमें न सिर्फ साहित्य लेखन का कार्य हुआ, वरन बीजापुर, गोलकुण्डा आदि मुस्लिम रियासतों में राजकाज की भाषा के रूप में इसे प्रतिष्ठा मिली। उल्लेखनीय बात यह है कि जिस खड़ी बोली को भारतीय संविधान द्वारा स्वतंत्रता के बाद प्रशासनिक महत्व मिला है, उसे लगभग छः सौ वर्ष पूर्व ही दक्षिण में वह महत्व प्राप्त हो चुका था।

आज की खड़ी बोली के इतिहास और उसके वर्तमान स्वरूप के अध्ययन के लिए दक्खिनी का बहुत महत्व है। व्याकरण संरचना की दृष्टि से यह बांगय के बहुत समीप है। बांगय की तरह इसमें भी आकारान्त पुल्लिंग और स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों का बहुवचन रूप 'आ' लगाकर बनाया जाता है, जैसे, घर से घरां, किताब से किताबां आदि। इसमें 'और' के लिए 'होर' का प्रयोग होता है और ने का प्रयोग कर्ता कारक के प्रसंग में नहीं वरन् कर्म और सम्प्रदान कारकों के प्रसंग में भी होता है। ये प्रवृत्तियाँ बांगरू (पंजाबी) में आज भी जीवित हैं। इसमें 'स से' के लिए 'सं. , स्यों और स्यौं,' की' के बदले कं,' 'कभीं' के लिए 'कभु' आदि रूप मिलते हैं। जैसे–1. अरे ऊधौ सुनौ यह दुख हम सूं। 2. "अकल अच्छे तो आपस कूं होर दूसरे कूं पछाने।" उत्तर भारत में 17–18वीं शताब्दी में खड़ी बोली गद्य की जो रचनाएँ प्रस्तुत हुईं, उनमें भी ये भाषिक विशेषताएँ मिलती हैं। जैसे कुतुब शासक (1613)ई. गणेश गोसठ (1658)ई. आदि में दक्खिनी के प्रसंग में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में लिखित इन गद्य रचनाओं की तरह पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज और कनौजी आदि के प्रभावों से युक्त होने के बावजूद इसका गद्य आज के खड़ी बोली गद्य से जितनी समीपता रखती है, उतनी समीपता इन रचनाओं के गद्य में भी नहीं।

यद्यपि दक्खिनी का साहित्य अरबी, फारसी में लिखा गया है और इसमें अरबी फारसी शब्दों की संख्या बहुत है, फिर भी उसमें संस्कृत शब्दों की संख्या भी कम नहीं है। दक्षिण में बस गए हिन्दुओं और मुसलमानों की सम्मिलित जनभाषा होने के कारण दक्खिनी आज की हिन्दी और उर्दू का सम्मिलित पूर्व रूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी शब्दावली आधुनिक हिन्दी की शब्दावली से अधिक समीपता रखती है। निजामी के आख्यान काव्य 'मनसवी कदमराव के पदमराव' की पँक्तियाँ देखिए:–

अकास ऊँचा, पाताल धरती धई।
जहाँ कुछ न कोई, वहाँ है तुहं।।

वास्तव में हिन्दी के आदिकाल का परिचय देने वाली प्रायः सभी कृतियाँ हिन्दी प्रदेशों से बाहर की लिखी हुई मिलती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'नाथ सिद्धों की बानियाँ में जिन चौबीस नाथ सिद्धों की रचनाएँ संगृहित की हैं उनमें अधिकांश अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के निवासी हैं तथा उनका समय 14वीं शताब्दी से पूर्व ही माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि 14वीं शताब्दी से पूर्व ही अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी साहित्य सृजन की परम्परा प्रारंभ हो गई थी। 13वीं शताब्दी से ही पूर्वी भारत में "ब्रजबुलि" साहित्य का परिचय मिलने लगता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 13वीं शताब्दी से भारत के अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी साहित्य का लिखा जाना प्रारंभ हो गया था, साथ ही इस समय से पूर्व का भी जो हिन्दी साहित्य आज उपलब्ध है, वह भी जैन एवं बौद्ध सन्तों द्वारा अहिन्दी भाषी प्रदेशों में ही मुख्य रूप से लिखा गया है। इतना ही नहीं वरन् सुदूर दक्षिण भारत में भी हिन्दी बहुत पहले पहुँच गई थी। कुछ विद्वानों का मत है कि मुसलमान फकीरों, सैनिकों, हिन्दू सन्तों तथा राज्य संस्थापकों द्वारा हिन्दी दक्षिण में पहुँची। परन्तु 'दक्खिनी का पद्य और गद्य' के सम्पादक, डॉ. श्रीराम शर्मा इससे सहमत नहीं है कि दक्खिनी विशुद्ध रूप से मुसलमानों द्वारा पैदा की हुई भाषा है, जो सेना और शासन के कार्य के लिए दक्षिण भारत में आए थे। उनका विचार है कि राष्ट्रकूटों (7वीं शताब्दी) तथा यादवों (9वीं शताब्दी) के साथ हजारों लोग उत्तर से दक्षिण भारत में आए थे, उन्हीं के साथ जो उत्तर भारतीय भाषा उस समय दक्षिण भारत में लाई गई थी उसी से आगे चलकर दक्खिनी का विकास हुआ है। कुछ विद्वानों के अनुसार दक्षिण भारत में लिखी गई हिन्दी कविता के सर्वप्रथम उदाहरण 11वीं शताब्दी में राजा मुंज के दोहे माने जा सकते हैं जो कल्याण के राजा तेरुप के यहाँ कैद थे तथा तेरुप की बहिन मृणालवती से उनका प्रेम हो गया था। मुसलमानों के आगमन के पश्चात् उसने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक रूप ग्रहण कर लिया। लगभग इसी समय जब साधु संतो की साधना से एक सामान्य भाषा के रूप में सर्वत्र

हिन्दी का रूपान्वयन हो रहा था, दक्षिण में हिन्दू मुसलमान दोनों के सम्मिलित प्रयास से दक्खिनी हिन्दी का एक नया रूप उभरने लगा था। इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि अखिल भारतीय स्तर पर एक सामान्य भाषा की खोज आज कोई नया आविष्कार नहीं बल्कि इसके पीछे कई सौ वर्षों का इतिहास है जिसमें हिन्दी भूभाग के बाहर के लोग सतत् प्रयत्नशील रहे।

मात्रा और महत्ता-दोनों दृष्टियों से हिन्दी भाषा के उद्भव एवं विकास में, हिन्दीतर भाषियों का, खासकर दक्षिण के साहित्यकारों का जो योगदान रहा है उसको सही माने में आँकने के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनः लेखन एवं मूल्यांकन अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य नागप्पा के शब्दों में- "एक अखिल भारतीय भाषा के रूप में जब हिन्दी दक्खिनी बनकर मलिक काफूर के जमाने में दक्खिन आई, तब से वह यहीं टिक गई। दक्खिनी साहित्य गोलकुण्डा, बीजापुर, बीदर राज्यों में पनपा। उसमें तेलुगू, मराठी और कन्नड़ के कितने ही शब्द मिल गए हैं। भाषा शैली के इस रूप के ढलने में आन्ध्र एवं कर्नाटक का काफी योगदान रहा है क्योंकि पुराने निजाम, राज्य में दोनों भाषायी खण्ड विद्यमान थे।

केरल में इस सांस्कृतिक अनुष्ठान के गीत 19वीं सदीके आरम्भ में ही भक्ति भावना से प्रफुल्लित स्वाति तिरुनाल की सारवती वाणी में पाए जाते हैं : जैसे कि-

ऊधो सुनिए मेरा सनेस चले जब से पिया परदेस।
गौवां तृण नीर त्याग कीन्हीं जल जमुना नहिं भावौ
घड़ी जल कुंज कुम्हलावै।

स्वाति सलिल की सात्विकता और मुक्ताभ मनोहारिता के प्रचारित करने वाले ये पद राष्ट्र भारती के अनुपम रत्न हैं। राष्ट्रभारती के प्रेमियों एवं समर्थकों का कर्त्तव्य है कि भारत में अन्य अहिन्दी भाषी प्रन्तों के समान दक्षिण भारत में भी योजनाबद्ध रूप से शोध करें जिससे हिन्दी भाषा के विकास का प्रामाणिक इतिहास प्रकाश में आए तथा साथ-साथ हिन्दी के अनेकानेक कवियों का भी पता चले।

Nehru and Patel : Rivals Or Comrades?

-Ramachandra Guha

The best biography of Vallabhbhai Patel has been written by Rajmohan Gandhi. Based on full access to Patel's own papers, it is a rich account of his life and struggles, set against the context of the historical froces which shaped them.

Rajmohan Gandhi's Patel: A Life was first published in March 1991. The preface,written in April 1990, begins thus: "The establishment of independendent India derived legitimacy and power, broadly speaking, from the exertions of three men, Gandhi, Nehru and Patel. But while its acknowledgments are fulsome in the case of Nehru and dutiful in the case of Gandhi, they are niggardly in the case of Patel."

To underline the point that Jawaharlal Nehru loomed large in the public imagination, Rajamohan mentioned the recent celebration (in 1989) of his birth centenary, which "found expression in a thousand billboards, in commemorative TV serials, in festivals and on numerous other platforms". Then he continued : "Occurring on October 31, 1975 – four months after Emergency had been declared–the Patel centenary was, by contrast, wholly neglected by official India and by the rest of the Establishment, and since then the curtain drawn on the life of one of modern India's most remarkable sons has been only occasionally and partially lifted"

In 1991, and for several decades before that, it was certainly true that Nehru was celebrated and Patel neglected. One reason was that Patel died a mere two and a half years after Independence. On the other hand, Nehru served three full terms as prime minister. The India of the1970s and 1980s was the India that Nehru shaped politically, socially and economically.

A second reason why Nehru's name was high in the public imagination was that his daughter and grandson too had served as prime minister. In her own long tenure, Indira Gandhi sought to keep her father's memory and legacy alive. The Nehru centenary occurred when Rajiv Gandhi was prime minister, so he threw the full weight of the government machinery behind it.

Rajmohan's own book was researched in the 1980s, when Indira and Rajiv were in power. In the 1989 elections, Rajmohan was chosen by the Janata Dal to contest against Rajiv Gandhi in the parliamentary constituency of Amethi. This was billed in the media as a battle between the 'asli Gandhi' and the 'nakli Gandhi' name only because his Zoroastrian father changed it from 'Ghandy' (the standard Parsi spelling).

Rajmohan lost the election, but was soon afterwards sent by his party to the Rajya Sabha. The preface to his Patel biography was therefore written while he was an MP of a party opposed to the Congress and to the politics of Indira and Rajiv Gandhi in particular.

Rajmohan's book played its part in making Patel and his contributions better known. But they still remained under-appreciated, not least because between 2004 and 2014 the Nehru -Gandhi's were once again in power, and they, of course, promoted only their own.

In his election compaign. Narendra Modi seized on Patel as one of his heroes. Accusing the ruling dynasty in Delhi of deliberately suppressing Patel's memory, he vowed to build a massive statue in his honour. Patel, he went on to say, would have made a better prime minister than Nehru. Because of such partisanship, many Indians have come to believe that Nehru and Patel were personal rivals and political adversaries. This is because Nehru is now affirmed and avowed by the Congress (and Sonia and Rahul Gandhi in particular), and Patel by the Bhartiya Janata Party (and Narendra Modi in particular).

There are two ironies in Modi's invocation of Patel. First was himself a liflelong congressman; indeed, as home minister, it fell to him to ban the Rashtriya Swayamsewak Sangh after the Mahatma's murder. Second, Nehru and Patel were in fact not rivals but comrades and co-workers. They worked closely together in the Congress from the 1920s to 1947; and even more closely together thereafter, as prime minister and deputy prime minister in the first government of free India.

In April 1948, Robert Trumbull of the New York Times wrote a long essay on the Nehru Patel Jugalbandhi. The men had different temperaments, but wrote Trumbull, "their differences are too easily overdramatized". Both Patel and Nehru recongnised that after Gandhi's death, they had to work together to unite a fragmented nation. In the partnership between the two men, wrote Trumbull, "lies a great deal of the Government's strength, for they complement each other."

In his book, Rajmohan Gandhi meticulously decuments how, in the aftermath of the Mahatma's death, Nehru and Patel set aside their differences. Nehru focused on maintaining religious harmony, forging an independent foreign policy, and building a technological and industrial base. Patel focused on getting the princely states to join the Indian Union modernising the administrative services, and building a cross party consensus on the major elements of the Constitution.

Nehru does not belong to Sonia Gandhi's Congress; nor Patel to Modi's BJP. Indians of all parties (or none) should have the grace and understanding to celebrate both individuals, for having contributed jointly and separately to the nation we call our own.

Date of Pubn. : 30.9.2017 Posted at - NIE - H.O. Postal Date : 2-3Oct. 2017
RNI Reg. No. DELBIL/2007/22062 Postal Regd. No. DL(W) 10/2143/2017-2019

ओ३म् भद्राऽउत प्रशस्तयो भद्रं मनः
कृणुष्व वृत्रतूर्ये। येना समत्सु सासहः। (यजु. 15-39)

ऋषि : परमेष्ठी, देवता-अग्निः, छन्द-निचृदुष्णिक

अर्थ- हे ईश्वर! मेरे मन को दृढ़ संकल्प वाला बनाओ जिसमें मैं अपने मुख्य शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) के विरुद्ध संग्राम में विजय प्राप्त कर सकूँ।

Oh God, get me determination of mind to win the battle against my main enemies (Kam,Krodh, Lobh, Moh etc.)

Printed by - Friendsprintofast, New Delhi-58